

# एशिया में प्रवासन पर सामाजिक और आर्थिक विश्लेषण

राजीव चौधरी

शोधार्थी, लोक प्रशासन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार

सार-संग्रह

विस्थापन और अभाव को पैदा करने वाला विकास इन दिनों मानवाधिकार का मुद्दा माना जा रहा है। न केवल अध्ययन बल्कि जमीनी अनुभव से भी यह साफ तौर पर कहा जा सकता है कि देश के विकास के नाम पर लोगों को उनकी आजीविका से वंचित किया जा रहा है, वे हाशिए पर धकेले जा रहे हैं और इनकी विपनता बढ़ती ही जा रही है। यह मुद्दा पश्चिम बंगाल के सिंगूर व नंदीग्राम, ओड़ीसा के नियामगिरि और काशीपुर, उत्तरप्रदेश व हरियाणा में हाइवे के खिलाफ जनआंदोलन, मंगलोर व नवी मुंबई में सेज के खिलाफ आंदोलन व ऐसे ही अन्य जन संघर्षों के चलते राष्ट्रीय स्तर पर उभरा है। ऐसे आंदोलनों ने कानूनो, निर्णय प्रक्रिया व ऐसे ही अन्य गलत प्रक्रियाओं पर सवाल खड़े किए हैं जिनकी वजह से लोगों को विस्थापित होना पड़ा या वेहद लचर पुनर्वास झेलना पड़ा। ऐसे तमाम उपाय उन लोगों के अधिकारों के खिलाफ जाते हैं जो ऐसी परियोजनाओं की वजह से विस्थापित होते हैं या अभाव झेलते हैं, अथवा अपनी आजीविका से वंचित कर दिए जाते हैं। इस विफलता का सबसे प्रमुख कारण विकास को निर्धारित करने वाली विचारधारा है। इसके चलते मानवीय विकास की जगह आर्थिक विकास को ज्यादा तबज्जो दी जाती है। अध्ययन बताते हैं कि विस्थापन तथा आजीविका से बेदखली व विकास की वर्तमान सोच का ही नतीजा है कि ताकतवर और भी ज्यादा ताकतवर बनते जाते हैं तथा कमजोर पहले से कहीं ज्यादा अभावग्रस्त होकर और भी हाशिए पर चले जाते हैं। यही वजह है कि विस्थापन के अध्ययन में विकास के प्रतिमान केन्द्र में आ जाते हैं। (विकास प्रतिमानों से सब) पूर्वानुमानों का परीक्षण जरूर होना चाहिए और अगर ये सही साबित हो जो समस्याओं के निदान के उपाय ढूँढे जाने चाहिए। कुछ भी हो, यह याद रखा जा सकता है कि कुछ लोग विस्थापन के मुद्दे पर यह नजरिया रखते हैं कि यह तो इतिहास से चला आ रहा है। इस नजरिए से वे विस्थापितों के मसले पर मानवाधिकार कार्यकर्ताओं का विरोध दरकिनार करने की कोशिश करते हैं। कई अन्य क्षेत्रों जैसे लिंग समानता, लोकतंत्र आदि में भी जागरूकता हाल ही के वर्षों में बढ़ी है।

**शब्द कुंजी:** औद्योगीकरण, सांप्रदायिक, स्वायत्तशासी, आपदा, औपनिवेशिक, उद्योगपतियों, लोकतंत्र

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 11 में उल्लिखित जीने के अधिकार के बिंदु को देखते हुए देश की सर्वोच्च अदालत ने इस अधिकार की व्याख्या करते हुए इसे हर व्यक्ति के लिए सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार करार दिया है। इसमें आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा हित (वासवानी 1992-158) शामिल है। अध्ययन से पता चलता है कि लोगों को विस्थापित करने वाली अधिकांश परियोजनाओं में इस कर्तव्य को पूरी तरह भुला दिया गया है जिसका नतीजा परियोजना प्रभावित लोगों की बदहाली के तौर

पर सामने आता है। विस्थापन और अभाव को पैदा करने वाला विकास को मानवाधिकार का मुद्दा बनाने के विषय पर बोले जाते समय हमें यह बात जोड़नी चाहिए कि हम विकास औद्योगीकरण की जरूरत पर सवाल नहीं खड़े कर रहे। आजाद भारत को इन दोनों की ही जरूरत है क्योंकि उपनिवेश-काल में देश के उद्योग-धंधे चौपट हो चुके हैं और समूचा उप महाद्वीप बदहाली की ओर धकेला जा चुका है। इसलिए अगर आजादी के बाद की सरकारों ने विकास के लिए निवेश नहीं किया होता तो वो देश को असफलता की गर्त में झोक देतीं।

सवाल तो यह है कि विकास का पैमाना किस पर आधारित हो। ऐसे में सवाल भूमि, जल, उर्जा, खनिज और वित्तीय संसाधनों के अत्यधिक इस्तेमाल पर किया जाना चाहिए। पश्चिम देशों में यह संभव हो सकता है क्योंकि इसके लिए उन्हें अपने उपनिवेश वाले देशों की लूट-खसोट पर निर्भर रहना है। उनके विकास में श्रमिकों का शोषण अंतर्निहित है। यूरोप ने भी अपनी अतिशेष आबादी को अमेरिका, आस्ट्रेलिया, भारत सरीखे देशों में भेजा जाता था। आबादी की अधिकता में जमीन का अत्यधिक दोहन संभव नहीं हो सकता, खासकर ग्रामीण इलाकों में जमीन का अधिग्रहण मुश्किल हो जाता है। कुल मिलाकर ज्यादा ध्यान आर्थिक विकास पर ही रहा है। इसकी तुलना में सामाजिक क्षेत्रों मसलन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण व साफ-सफाई पर निवेश बेहद कम रहा है। इसी का नतीजा रहा है कि विकास के सर्वाधिक फायदे शहरी मध्यवर्ग व ग्रामीण उच्चवर्गीय तबके को मिले जिन्होंने इन सुविधाओं तक अपनी पहुँच सुनिश्चित की। (कुरियन 1997: 136-37) आंतरिक विस्थापित व्यक्ति (आईडीपी) की पहली श्रेणी संघर्ष से सब व्यक्तियों की होती है। एक अनुमान के मुताबिक धार्मिक व सांप्रदायिक संघर्षों के चलते दुनिया भर में 50 लाख आईडीपी शरणार्थी शिविरों में रहने को मजबूर हैं। इसमें हर साल बीस लाख और आईडीपी जुड़ जाते हैं (कलुदीप, 2005)। वही भारत में धार्मिक व सांप्रदायिक संघर्ष की वजह से आई डी पी होने वाले लोगों की सटीक संख्या का पता लगाना बेहद मुश्किल है क्योंकि इनमें से अधिकांश लोग अपने नाते-रिश्तेदारों के यहाँ शरण लेते हैं। केवल उन्हीं लोगों की गिनती हो पाती है जो राहत शिविरों में जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र के अनुमानों के मुताबिक 1999 में भारत में 507,000 लोग संघर्ष की वजह से आईडीपी की श्रेणी में थे (मजूमदार 2002: 102)। भारत में बीते तीन दशकों में धार्मिक व सांप्रदायिक संघर्षों की वजह से 30 लाख से भी ज्यादा लोग आईडीपी की श्रेणी में आ गए। इनमें 1985 के जातीय दंगों में 50,000

आईडीपी, गुजरात में 2002 के सांप्रदायिक दंगों में 100,000 आईडीपी, 1980 के दशक में कश्मीर के सीमावर्ती गांवों से 500-000 आईडीपी, कश्मीर घाटी से 350,000 कश्मीरी पंडित, 1984 के सिख दंगों के दौरान दिल्ली-कानपुर के बीच तथा 1989 के हिंदू-मुस्लिम दंगों व 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद की घटनाओं में 200,000 आईडीपी शामिल हैं (दास 2005: 122-134)।<sup>1</sup>

देश का उत्तर-पूर्वी हिस्सा बीते दो दशकों से जातीय संघर्ष झेल रहा है। असम में बिहारियों के खिलाफ जारी आंदोलन में 1979 से 85 के बीच 137,000 लोग विस्थापित किए जा चुके हैं। पश्चिम असम में 1993 में हुए बोडो स्वायत्तशासी परिषद (बीएसी) के समझौते में सीमाओं का निर्धारण साफ तौर पर नहीं हो पाया था। असम सरकार ने कई सौ गांवों को बीएसी में शामिल करने से यह कहते हुए मना कर दिया था कि उनमें बोडो बहुमत नहीं है। इसके चलते 'बहुमत बनाने' की कोशिश में 1993 में बंगाली मुस्लिमों पर 1995 में बंगाली हिंदुओं पर तथा 1996 में संथालों पर हमले शुरू हो गए। इसका नतीजा हुआ 350,000 और आईडीपी। 1980 में मेघालय के शिलांग में हुए आदिवासी-बंगाली संघर्ष के नतीजे में 25-30,000 लोग आईडीपी की श्रेणी में आ गए। इसी तरह त्रिपुरा में 1980 में हुए संघर्ष में 1400 बंगाली व 280 आदिवासी मारे गए जबकि 190,000 लोग विस्थापित कर दिए गए। मणिपुर में कुकी-पैतेई तथा नागा-कुकी संघर्ष के नतीजे में 1990 में 10,000 घर जला डाले गए 2,000 लोग मारे गए व 50,000 से ज्यादा लोग विस्थापित हो गए। मिजोरम में 30,000 से भी ज्यादा रियांग (ब्र) आदिवासी वेदखल कर दिए गए हैं (भौमिक 2005: 150-165)। असम के करीबी आंगलोग जिलों तथा एनसी पहाड़ियों में हुए सांप्रदायिक झड़पों में 2003 से 100,000 लोग विस्थापित हो चुके हैं (मैगातूथाझे 2008: 60-61)।<sup>2</sup>

आईडीपी की अगली श्रेणी उन लोगों की है जो प्राकृतिक या मानव निर्मित आपदाओं का शिकार होते हैं। इनमें भूकंप, बाढ़, सूखा, भू-स्खलन व औद्योगिक हादसे शामिल हैं। ऐसे नियमित हादसों के आलावा भारत व दक्षिण एशिया मरूस्थलीकरण व पर्यावरण विनाश की प्रक्रिया से भी गुजर रहे हैं। इनका असर तत्काल महसूस नहीं किया जा सकता है या फिर भूकंप सरीखी एक ही घटना से पता नहीं चल सकता लेकिन यह होता जरूर है (दासगुप्ता 2007 : 30-33)। कई ऐसे हादसे जो प्राकृतिक कहे जाते हैं। वस्तुतः मानवनिर्मित होते हैं। यानी ऐसे हादसे जो मानवीय दखल की वजह से होने वाले पर्यावरणीय क्षति के नतीजे में होते हैं। ऐसे हादसों में हम जुलाई 2005 में मुंबई में आई बाढ़ व कोयना भूकंप जैसी घटनाओं को शामिल कर सकते हैं। बाढ़ की बढ़ती त्रासदी, सूखा और लगातार विकराल हो रहे भू-स्खलन, मरूस्थलीकरण व पर्यावरणीय विनाश की वजह से आईडीपी की संख्या वेतहाशा बढ़ती ही जा रही है (बंदोपाध्याय 2007 : 5)। उदाहरण के तौर पर सरकारी आँकड़ों में यह अनुमान लगाया गया है कि वर्ष 1953 की बाढ़ में कुल 524 लोगों की जान गई थी, जबकि इस दौरान 244.8 लाख हेक्टेयर जमीन प्रभावित हुई थी। इसी तरह 1960 के दशक के मध्य में बाढ़ से मौतों की संख्या 1.000 का आंकड़ा पार कर गई थी। वर्ष 1985 में बाढ़ की वजह से देश की 590.9 लाख हेक्टेयर जमीन प्रभावित हुई थी, जबकि मौतों का आंकड़ा बढ़कर 40,593 तक पहुँच गया था। 1998 में यह आंकड़ा 58,459 था जिसमें 687.2 लाख हेक्टेयर जमीन प्रभावित हुई वही 2002 में 224.4 लाख हेक्टेयर जमीन डुबने के साथ मौत का आंकड़ा 26,247 का था (प्रसाद 2005)।<sup>3</sup>

आपदा से जुड़े दस्तावेजों के मुताबिक दुनियाँ भर में इसकी वजह से होने वाले आईडीपी की संख्या 500.000 है। कुछ वर्षों में यह इससे भी ज्यादा होती है। उदाहरण के तौर पर 2001 में गुजरात के भूकंप और 2005 में कश्मीर में आए भूकंप में 20-30,000

लोगों की जाने गई और हर राज्य में 200,000 लोग विस्थापित हुए। इसी तरह 2004 की सुनामी में 300,000 लोग मारे गए और 500,000 लोग अपने घरों से वेधर हो गए। बीते कुछ वर्षों में 500,000 लोगों के प्रति वर्ष विस्थापन की संख्या काफी नियमित सी रही है (दास 2005 : 112-113) इन सबके अलावा हर साल बाढ़ की वजह से 10 लाख लोग अस्थायी तौर पर विस्थापित होते हैं सूखे, भूस्खलन तथा मरूस्थलीकरण के प्रभावितों की संख्या इससे भी कहीं ज्यादा होती है। आमतौर पर आपदा प्रभावित आईडीपी की पूछ-परख तुलनात्मक तौर पर बेहतर होती है। आपदा की नियमितता को देखते हुए कई संस्थानों ने इसके विस्थापितों को देखभाल सम्बन्धी दक्षता सीख ली है, मसलन ट्रॉम सेंटर में देखभाल, सामुदायिक सहयोग, निवास व अन्य मदद। साथ ही आर्थिक मदद का बहाव भी अन्य की तुलना में बेहतर है। संघर्ष व आपदा प्रभावित आईडीपी को तत्काल मदद मिल जाती है। कई संगठन उनके लिए राहत की व्यवस्था कर देते हैं या इसके लिए उनके नेतृत्व से चर्चा करते हैं। और इनमें से अधिकांश बाद में उन्हें भूल भी जाते हैं। विस्थापन के खिलाफ ऐसा ही एक सर्वाधिक जाना-माना आंदोलन है पुणे में मुलशी-पेटा के 1920 में टाटा कंपनी और ब्रिटिशों के सहयोग से पन बिजली परियोजना के लिए बनाए जा रहे बांधों के खिलाफ छोड़ा गया आंदोलन। जिन किसानों को जमीन इस बांधों की वजह से डूब में आने वाली थी उन्होंने अपने विस्थापन के खिलाफ बगावत कर दी, लेकिन वे उन औपनिवेशिक ताकतों के हाथों खदेड़ दिए गए जो उद्योगपतियों की मदद कर रहे थे। स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों ने इस संघर्ष को आजादी के लिए जारी लड़ाई के एक हिस्से के तौर पर मान्यता दी और इसे ब्रिटिश शासकों के खिलाफ लोगों को बहादुरी माना है। अगर हम विकास की वजह से आंतरिक विस्थापित लोगों की (आईडीपी) की बात करें तो स्थिति और वदतर दिखाई देती है। ऐसे लोगों की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में प्रक्रिया की वजह

से विस्थापित होने वाले लोग आते हैं। प्रमुख आर्थिक बदलाव तथा नई तकनीकी ने लोगों को उनके सहारे दूर कर दिया। उदाहरण के तौर पर 1970 में तटीय उथले या कम पानी वाले इलाकों में गहरे पानी के ट्रॉलरो को लाने की मंजूदी से हजारों मछुआरों को उनकी आजीविका से दूर कर दिया गया (अलेकजेंडर 1980)। गौरवनीकरण के चलते लाखों आदिवासियों को अपनी रोजी-रोटी से हाथ धोना पड़ा (पांडे 1998 : 2-3)। रबड़ के जूतों और चप्पलों ने दलित जुता बनाने वालों का रोजगार छीन लिया (त्रिवेदी 1977)

वैश्वीकरण के एक अहम अंग मशीनीकरण की वजह से सदा मजदूरों को खासकर महिलाओं को बड़ी संख्या में बेरोजगार कर दिया (बानुमयी 2002-00)। इस प्रक्रिया से विस्थापित होने वाले किसी भी व्यक्ति को विकास से पीड़ित माना गया। इनमें से अधिकांश दलित, आदिवासी तथा अन्य कमजोर सामुदायिक तबकों से थे। दूसरी श्रेणी में ऐसे लोग आते हैं विकास परियोजनाओं में जिनकी जमीन और संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें उनकी आजीविका से दूर कर दिया। इनमें से कुछ विस्थापित लोग (डीपी) थे तथा अन्य परियोजना प्रभावित लोग (पीएपी) की श्रेणी में आते हैं। कुछ परियोजनाओं ने लोगों को उनकी निजी जमीन से दूर कर बेरोजगार कर दिया वही कुछ को उनकी सामूहिक जमीन साझा संसाधनों से विहीन कर बेरोजगार की श्रेणी में ला दिया। कई मामलों में तो दोनों ही तरह की जमीनो को छीना गया है। कई अन्य योजनाओं के चलते लोगों को उनकी आजीविका तक पहुँच बनाने से रोका गया है। उदाहरण के तौर पर बंदरगाह परियोजनाएँ, जिनकी वजह से मछुआरों को समुद्र में जाने और मछली पकड़ने के अधिकार से वंचित रखा जाता है (फर्नांडीस तथा आसिफ 1997 : 109-111)। इस तरह अप्रत्यक्ष तौर पर विस्थापित व्यक्ति भी हैं जो पर्यावरणीय प्रभावों की वजह से अपनी रिहाई से बाहर निकलने के लिए मजबूर कर दिए जाते हैं। मसलन थर्मल पावर प्लांट, अल्युमिनियम प्लांट आदि जिनकी

वजह से भारी मात्रा में कचरा या व्यर्थ सामग्री का निष्पादन होता है। इसके अलावा जमीन की उर्वरता, पानी, स्वास्थ्य आदि पर इस कचरे के प्रभाव से भी लोगों का विस्थापन होता है (गांगुली ठुकराल 1999 : 11)। ऐसे लाखों लोगों की तलाश की जा सकती है अगर उन्हें उनकी पहचान के लिए किसी सटीक तरीके का इस्तेमाल किया जाए वास्तव में ऐसे लोगों में बहुत ही कम की पहचान हो सकी है (भटाली 2008:;)। कुल मिलाकर यह लगभग 5 असंभव है कि हम अप्रत्यक्ष तौर पर विस्थापित लोगों की पहचान और गिनती कर सकें। यही वजह है कि विस्थापन पर होने वाले ज्यादातर अध्ययनों से उन्हें बाहर ही रखा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि विकास परियोजनाओं की वजह से होने वाले आईडीपी की संख्या उनसे ज्यादा है जो दूसरे तरह के विस्थापितों के श्रेणी में आते हैं। दूसरी बात, अधिकांश अध्ययन आजादी के बाद के दौर तक ही सीमित रहे हैं। जबकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि गुप्त काल में तीसरी से 6 वीं सदी तथा मध्य युग में बांधों तथा कई तत्कालीन परियोजनाओं से विस्थापन तथा पलायन की घटनाएँ हुई थी। हालांकि इनका नकारात्मक प्रभाव इसलिए ज्यादा नहीं हो पाया क्योंकि इस दौर में जमीन काफी ज्यादा थी और आबादी कम। यह कलोनियल युग में खतरे की श्रेणी में आया और वर्तमान योजना व विकास के दौर में यह खतरा और भी बढ़ गया (मनकोडी 1989: 140-143)। कुछ भी हो, यह याद रखा जा सकता है कि कुछ लोग विस्थापन के मुद्दे पर यह नजरिया रखते हैं कि यह तो इतिहास से चला आ रहा है। इस नजरिए से वे विस्थापितों के मसले पर मानवाधिकार कार्यकर्ताओं का विरोध दरकिनार करने की कोशिश करते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि समस्या को इसलिए नहीं टाला जा सकता क्योंकि यह अब पुरानी हो चुकी है। हमें याद रखना चाहिए कि कई अन्य क्षेत्रों जैसे लिंग समानता, लोकतंत्र आदि में भी जागरूकता हाल ही के वर्षों में बढ़ी है। हम निश्चित ही महिलाओं के दमन, सामंतवाद या ऐसे ही अन्य अन्यायपूर्ण परंपराओं को इसलिए जारी नहीं रख सकते क्योंकि ये पुराने हैं।

आज विस्थापन का मुद्दा मानवाधिकार का एक बड़ा मसला बन चुका है। इसका कारण यह है कि उपनिवेश काल में ही इसका अनुपात खतरनाक स्तर को छू चुका था और 1947 के बाद तो इसमें और तेजी आ गई। औपनिवेशिक दखल का नतीजा परोक्ष या अपरोक्ष तौर पर लाखों लोगों की विस्थापना तथा अलगाव के तौर पर सामने आया। इसमें से अधिकांश प्रक्रिया आधारित थे। इनसे विस्थापित हुए लोगों की संख्या का कोई अंदाजा-पता नहीं है। दादा भाई नौरोजी (1998) ने यह संख्या साढ़े तीन करोड़ आँकी थी। यह जरूर पता है कि प्रक्रियागत विस्थापन के चलते बड़े पैमाने पर विस्थापित होने वालों में भूमिहीन दलित सर्वाधिक थे। सामुदायिक प्राकृतिक संसाधन आधारित आदिवासी तथा अन्य सेवारत समुदाय सस्ते मजदूरों में बदल गए। बदलावों से अभावग्रस्त और गरीब हुए अधिकांश लोगों ने हार मान ली उनमें से कई भारतीय अफ्रीकी, वेस्टइंडीज प्रशांत व दक्षिण पूर्व एशिया की ब्रिटिश औपनिवेशिक कालोनियो में वनीकरण, खनन आदि परियोजनाओं में बंधुआ मजदूरों के तौर पर भेजे गए जहाँ उन्हें दासों की सी हालात में काम करने पर मजबूर होना पड़ा (सेन 1979 : 8-12) हालांकि कई समुदायों, समूहों ने इनके हाशिए पर जाने की प्रक्रिया का पुरजोर विरोध किया। इसलिए इतिहास में आदिवासियों और दलितों के कई संघर्ष दर्ज हैं। विस्थापन के खिलाफ ऐसा ही एक सर्वाधिक जाना-माना आंदोलन है पुणे में मुलशी-पेटा के 1920 में टाटा कंपनी और ब्रिटिशों के सहयोग से पनविजली परियोजना के लिए बनाए जा रहे बांध के खिलाफ वगावत कर दी, लेकिन वे उन औपनिवेशिक ताकतों के हाथों खदेड़ दिए गए जो उद्योगपतियों के मदद कर रहे थे। स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों ने इस संघर्ष को आजादी के लिए जारी लड़ाई के एक हिस्से के तौर पर मान्यता दी इसे ब्रिटिश शासकों के खिलाफ लोगों के बहादुरी माना (युस्कटे : 170-172)।<sup>5</sup>

आजाद भारत के नेताओं ने सामाजिक ताने-बाने की कभी भी उपेक्षा नहीं की बल्कि उनकी सोच यह रही कि सार्वजनिक क्षेत्र के जरिए आर्थिक उन्नति को नई ऊँचाईयों पर लाकर वे सामाजिक बराबरी कर पाएँगे। वे इस बात से प्रभावित रहे कि राज्य द्वारा प्रेरित तकनीकी विकास के जरिए वे बेरोजगारी, गरीबी और अशिक्षा की समस्या से निजात पा जाएँगे तथा ऐसे विकास का फायदा हर भारतीय तक पहुँच जायेगा। उन्हें इस बात का अंदाजा तो था कि इस दौरान कई समस्याओं का सामना होगा वहीं वे इस बात का भरोसा भी था कि समस्याएँ अस्थायी होंगी और अंततः इससे सभी का भला ही होगा (व्यासुल 1998)। बहुत ही कम लोग, जैसे महात्मा गाँधी (1948 : 26) ने महसूस किया था कि उपनिवेशवादी देश अपने उपनिवेशों का शोषण कर अमीर बनते जा रहे हैं। इसी वजह से महात्मा गांधी ने स्वतंत्र भारत को पश्चिमी राह का अंधानुकरण करने से आगाह किया था। उन्होंने औद्योगिकीकरण का न ही उद्योगवाद का विरोध किया था। वे ऐसे विकास के लिए विरोधी थे जो उस तकनीक और उपभोग की राह पर चलता था जो बहुमत की पहुँच से बहुत दूर था। इंग्लैंड सरीखे छोटे से देश ने दुनिया के आधी देशों को महज इसलिए वंचित बना रखा था ताकि उसके नागरिक अमीरों की तरह जी सकें। इसलिए उन्हें यह डर था कि अगर भारत जैसे बड़े देश भी उसी राह पर चल पड़े तो यह प्रक्रिया और भी ज्यादा दूर तक जाएगी और ज्यादा देश वंचित हो जाएँगे। उनके अनुयायियों का यह मत था कि चूँकि भारत के उपनिवेश नहीं है इसलिए यहाँ मध्यम वर्ग अपनी आरामदेह सुविधाओं के लिए गरीबों को उनके हकों से वंचित कर देगा और दूसरी पंचवर्षीय योजना 1956-61 ने इसी नजरिए को अपनाया और कहा गया कि यह कवायद समानता लाने की है (योजना आयोग 1956 : 236)। तीसरी योजना (योजना आयोग 1961 : अप्रोच पेपर नंबर 7) में कहा गया, भारत के पास एक परंपरावादी समाज है जिसकी जड़े हजारों वर्ष पुराने



इतिहास में गड़ी है। ऐसे में सामाजिक परंपराओं में दुरगामी बदलाव वेहद जरूरी है, जिनकी शुरुआत हो चुकी है, ताकि तकनीकी विकास पर आधारित ऐसा समाज बनाया जा सके जो समान अवसर प्रदान कर सके तथा सामाजिक न्याय की जगह आर्थिक तरक्की को प्राथमिकता मिल सके। इसी विचारधारा पर चलते हुए भारत के पश्चिम से जैसे तथा अत्याधुनिक तकनीकी उधार में ली। इस विदेशी मदद के जरिए पूंजीवाद आधारित ढाँचागत परियोजनाओं को लागू करने की कवायद की गई। 1947 के बाद भारत की पूरी कोशिश आधुनिकीकरण की थी ताकि वह पश्चिम की टक्कर कर सके। यहाँ इस तथ्य की पूरी तरह अवहेलना कर दी गई थी कि भारत जाति और लिंग आधारित असमानता वाला समाज है जिसमें विकास के फायदे देश के हर नागरिक तक तक नहीं पहुँच सकते जब तक समान समाज की रचना के लिए जरूरी कदम नहीं उठाए जाते।

#### निष्कर्ष:

इसमें कहा जा सकता है, जिस प्रकार से प्राचीन इतिहास से लेकर अब तक का काल में हुई घटना चक्रों से, विश्व के एशिया में भी सामाजिक और आर्थिक विश्लेषण पर पता चलता है कि जनमानस में असमानता का दौर से गुजरने के कारण कई प्रकार से शोषण का शिकार होना पड़ा और जिसका नतीजा प्रवासन तक पहुँच गया, लेकिन प्रवासन होने के बाद भी शोषण मुक्त समाज की कल्पना करना व्यर्थ ही साबित हो सकता है। क्योंकि सामाजिक, समानता तभी लाई जा सकती है जब वह समाज आर्थिक रूप से परिपूर्ण हो तभी उसे बैठने के लिए बराबरी का स्थान दिया जा सकता है जो 21वीं सदी में भी देखा जा सकता है।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. वाल्टर फर्नांडीस 2014, विस्थापन, अभाव और विकास की प्रक्रिया
2. वही, पृष्ठ 1,2,3,4,5,6

3. बंदोपाध्याय, चंद्राणी 2007: डिजास्टर प्रीपेयर्डनेस फॉर नेचुरल हजार्ड्स: करंट स्टेटस इन इंडिया, काठमांडु : इंटरनेशनल सेंटरफॉर इंटीग्रेटेड माउंटने डेवलपमेंट
4. बख्शी, उपेंद्र 1983 : 'टुवर्ड्स ए डिजायन आफ काउंटरवेलिंग पीपुल्स पॉवर इन फॉरेस्ट लॉ एंड एडमिनिस्ट्रेशन : एजेंडम फॉर डेमोक्रेटिक लॉ मेकिंग' : पीपुल्स राइट्स एंड एन्वायरोमेंटल नीड्स, नई दिल्ली, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, पृष्ठ संख्या 102-107
5. भल्ला, सुरजीत एस 2001, इंडियन पूवर्टी: आइडियालॉजी एंड एविडेंस, सेमिनार संख्या 497, जनवरी, पृष्ठ संख्या 22-27
6. भराली, गीता 2004 : डेवलपमेंट इंड्यूस्ड डिस्प्लेसमेंट : द स्ट्रगल बिहाइंड इट, इंटरनेशनल कॉन्फ्रेंस ऑन डेवलपमेंट एंड डिस्प्लेसमेंट : असोएशियन पर्सपेक्टिव, हैदराबाद: ओस्मानिया यूनिवर्सिटी, नवंबर 27-28, 2004.
7. भानुमथी, के 'द स्टेटस ऑफ वूमन अफेक्टेड बाइ माइनिंग इन इंडिया: एक रिसोर्स किट, नई दिल्ली, दिल्ली फोरम, पृष्ठ संख्या 20-24.
8. भौमिक, सुबी 2003 : 'त्रिपुरा गुमटी डैम मस्ट गो' द इकोलॉजिस्ट एशिया 11 (एन, 1 जन-मार्च) पृष्ठ संख्या 84-89.
9. भौमिक सुबीर, 2005. 'इंडियाज नार्थ ईस्ट: नोबॉडीज पीपुल इन नो मैनस लैंड इन पाउला बनर्जी, इंटरनेशनल डिस्प्लेसमेंट इन साउथ एशिया, नई दिल्ली, सेज प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 144-147.
10. भस्कुटे, आरवी 1997 : 'द महाराष्ट्र रिहैबिलिटेशन एक्ट 1989', ए राइट टू लाइवलीहुड, नई दिल्ली तथा पुणे, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट तथा इकोनेट, पृष्ठ संख्या 169-191.

